
इकाई 4 ग्रन्थ विश्लेषण में प्रमाणों के अनुप्रयोग

इकाई की रूपरेखा

- 4.0 उद्देश्य
- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 ग्रन्थ विश्लेषण की समस्या
- 4.3 प्रमाण और ग्रन्थ विश्लेषण
- 4.2 विद्या का अर्थ
- 4.3 शास्त्रीय प्रक्रिया
- 4.4 वैदिक ग्रन्थ का अध्ययन
- 4.5 ग्रन्थों का पृथक्करण
- 4.6 श्रद्धा और बुद्धि प्रधान ग्रन्थ
- 4.7 समकालीन ग्रन्थों की व्याख्या में प्रमाण सिद्धान्त का उपयोग
- 4.8 सारांश
- 4.9 पारिभाषिक शब्दावली
- 4.10 सन्दर्भग्रन्थ
- 4.11 बोधप्रश्न

4.0 उद्देश्य

इस ईकाई को पढ़ने के बाद आप—

- भारतीय प्रमाण सिद्धान्त के आधार पर ग्रन्थों के अध्ययन कैसे की जाती है, यह जान सकेंगे।
- किसी दिये गये ग्रन्थों का विश्लेषण करने की दृष्टि प्राप्त कर सकेंगे।
- समकालीन ग्रन्थों का अध्ययन इस विधि से कैसे की जायेगी, यह सीख सकेंगे।
- ग्रन्थ की परिभाषा, उसके स्वरूप तथा उसके विभिन्न अवयवों को समझ सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

भारत वाचिक परम्परा का देश है। फिर भी यहाँ ग्रन्थ का निर्माण प्राचीनकाल से ही होता आ रहा है। ग्रन्थों में विषय विवेचन के मानक के रूप में प्रमाणों का प्रयोग किया जाता है। ग्रन्थों में जो बात कही गयी है, वह या तो लेखक का प्रत्यक्षानुभव होता है या अनुमान। लेखक अपनी बात कहने के लिये उपमान, अनुपलब्धि, अर्थापत्ति इत्यादि प्रमाणों का उपयोग भी करता है। जब पाठक के समक्ष ग्रन्थ प्रस्तुत होती है, तो वह पाठ्यग्रन्थों का आशय प्रमाणों के आधार पर ही ग्रहण करता है। यदि ऐसा न हो, तो या तो पाठक ग्रन्थ का गलत अर्थ ग्रहण करे लेगा या फिर ग्रन्थ में लिखित ज्ञानसामग्री लोकउपयोगी रह जायेगी। आप जानते हैं कि प्रमाण सिद्धान्त यथार्थ ज्ञान और यथार्थ अनुभव पर आधारित है। इसलिये जो कुछ भी ग्रन्थ में लिखा जाय या

किसी ग्रन्थ में जो कुछ भी लिखा गया है, उसका अर्थ प्रमाणों की सहायता से ग्रहण किया जाये।

इन्हीं अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए इस ईकाई में भारतीय प्रमाण सिद्धान्त के आधार पर ग्रन्थ विश्लेषण के विषयवस्तु का विवेचन किया जा रहा है। इस ईकाई को पढ़ने के बाद आप ग्रन्थ विश्लेषण की समस्या भारतीय ग्रन्थ परम्परा में ग्रन्थ विश्लेषण की दृष्टि तथा ग्रन्थ विश्लेषण में प्रमाण सिद्धान्त का किस प्रकार से उपयोग होता है, इसका विश्लेषण किया गया है। बिना ग्रन्थ विश्लेषण की विधियों को जाने और उन विधियों में प्रयुक्त आवश्यक विषयवस्तु को समझे आप सन्तुलित ज्ञान का उत्पादन नहीं कर सकते। भारतीय परम्परा में इन सभी पक्षों पर विस्तार से विचार किया गया है। उनमें से कुछ पक्षों पर संक्षेप में आप इस ईकाई में पढ़ने जा रहे हैं।

4.2 ग्रन्थ विश्लेषण की समस्या

आप यह भलिभाँति जानते हैं कि विभिन्न प्रकार के ग्रन्थ पाठक के समक्ष उपस्थित होते हैं और लेखक के समक्ष भी ग्रन्थलेखन के अनेक विषय उपलब्ध हैं। इस कारण से दुनिया में ग्रन्थों की अनेक प्रकार तथा बहुविध स्वरूप उपस्थित होता है। कुछ ग्रन्थ इतने प्राचीन हैं कि उनमें लिखे शब्दों का अर्थ वर्तमान में उपलब्ध ही नहीं होता। कुछ प्राचीन भाषा को मृत भी मान लिया गया है। जैसे— प्राचीन ग्रीक और लैटिन। यद्यपि कि भाषाविज्ञान इन भाषाओं का अध्ययन करता है, फिर भी भाषाविज्ञान से इन भाषाओं में गहरे बैठे प्रतीकवाद की व्याख्या उससे वंचित रह जाती है।

4.3 प्रमाण और ग्रन्थ विश्लेषण

बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने प्रमाण का लक्षण करते हुए लिखा है—

अविसंवादि ज्ञान को ही प्रमाण कहा जाता है। अर्थ (दाह—पाकादि रूप प्रयोजन) की क्रिया निष्पत्ति का नाम अविसंवाद है। शब्द ज्ञान में भी वक्ता का अभिप्रेत अर्थ का निवेदन होने के कारण प्रमाणता मानी गयी है।

प्रमाणविसंवादि ज्ञानमर्थ क्रियास्थितिः।

अविसंवादनं शाब्देऽप्याभिप्रायनिवेदनात् ॥

जैन विद्वान् अकलंक ने प्रमाण को परिभाषित करते हुए लिखा है— प्रमाण को अविसंवादी तथा अनधिगतार्थक होना चाहिए। माणिक्य नंदी ने लिखा है कि वह ज्ञान जो 'स्व' अर्थात् अपने आप का तथा 'अपूर्वार्थ' का यानि जिसे किसी अन्य प्रमाण से नहीं जाना गया है, का निश्चय करता है, उसे प्रमाण कहते हैं। निश्चयात्मक होना प्रमाण के लिये आवश्यक है। माणिक्य नंदी ने प्रमाण की एक और परिभाषा दी है—

“हिताहित प्राप्ति परिहार समर्थ हि प्रमाणततो ज्ञानमेवतत्।”

अर्थात् ज्ञान जो हित प्राप्ति में सहायक होता है और अहित का परिहार करता है, प्रमाण कहलाता है।

प्रश्न : विभिन्न सम्प्रदाय के विद्वान् अन्य ग्रन्थों का अध्ययन कैसे करते थे?

उत्तर : सबसे पहले तो ग्रन्थों के विश्लेषण करने की व्याख्यापद्धति विकसित की गयी। परासर पुराण में सूत्रग्रन्थों का पढ़ने के लिये क्रम से छः नियमों और उनके क्रम का निरूपण इस प्रकार से किया है—

**पदच्छेद पदार्थोक्ति विग्रहो वाक्ययोजना ।
आक्षेपश्च समाधानं व्याख्यानं षडविध मतम् ॥**

अर्थात् पदच्छेद, प्रतिपाद्य का अभिकथन, व्युत्पत्ति का प्रदर्शन, वाक्य की योजना, आक्षेप और समाधान रूपी छः विधियों का अनुप्रयोग करते हुए किसी शास्त्र के उस ग्रन्थ का व्याख्यान किया जाय जो सूत्रों की संहति में प्रस्तुत हुआ हो तो उस ग्रन्थ का निहितार्थ सम्यक् रूप से उद्घाटित हो जाता है। व्याख्याकार सर्वप्रथम व्याख्येय प्रसंग के वाक्यों को पदों में बांटता है। इसी को पदच्छेद अथवा अन्वय कहते हैं।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में अन्यथा भी छह प्रकार से सूत्रों की व्याख्या करने की बात दुहराई गई है।

**आरम्भोऽथापि सम्बन्धः सूत्रार्थस्तद विशेषणम् ।
चोदकं परिहारस्य व्याख्या सूत्रस्य षडविधा ॥**

अर्थात् पूर्वापर सम्बन्धात्मक संगति (अवतरण). विषय के साथ प्रकरण का सम्बन्ध प्रतिपाद्य का अभिकथन, उसके विशेषण के अभिप्राय का परिष्कार, पूर्वपक्ष का उत्थापन और उसका परिहार करना सूत्र की व्याख्या में अपेक्षित होता है। इसी बात को अन्यत्र भी थोड़े शब्दान्तर से कहा गया है। वह यह कि व्याख्या के लिए सूत्रार्थ, पदार्थ, हेतु क्रम और निरुक्ति तथा सम्यक् प्रस्तुति आवश्यक है।

**सूत्रार्थश्च पदार्थश्च हेतुश्च क्रमशस्तथा ।
निरुक्तमय विन्यासो व्याख्या योगस्य षडविधा ॥**

एक अन्य बहुश्रुत श्लोक में भी व्याख्या के षडविध तंत्रों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि व्याख्या के लिए भूमिका अर्थात् अवतरण के साथ व्युत्पत्ति का प्रदर्शन पूर्वक प्रतिपादय का कथन, संदेह का उत्थापन एवं उसका निराकरण करते हुए सिद्धांत पक्ष की उपस्थापना विवक्षित है। यहाँ केवल वाक्य योजना की बात नहीं कही गई है लेकिन इसे तंत्रगत स्वयं ही गतार्थ माना जा सकता है।

**उपोद्घातः प्रथमतः पदार्थः पदविग्रहः ।
अविमर्शः प्रत्यवस्था व्याख्या तंत्रस्य षडविधा ॥**

उपर्युक्त षडतंत्री व्याख्या पद्धति से मिलती-जुलती एक पंचसूत्री व्याख्या पद्धति भी है जो पूर्वमीमांसा व्याख्या पद्धति के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार किसी भी विषय पर विचार करते समय पक्ष-विपक्ष के बलाबल की चिन्ता करते हुए निर्णय तक पहुँचने की प्रक्रिया मीमांसाशास्त्र में अपनाई गई है। केवल विषय का उल्लेख मात्र निर्णय के लिए पर्याप्त नहीं है अपितु उस विषय में उहापोह के पश्चात् इदमित्थं का अवधारण किया जाता है। यहाँ पाँच प्रकार से उहापोह करने की प्रक्रिया निर्दिष्ट की गई है। पहले विवाद का विषय प्रस्तुत किया जाता है और फिर उस विषय में सम्भावित शंका उठाई जाती है। पूर्वपक्ष की युक्तियाँ प्रदर्शित की जाती हैं, पुनश्च उसके निराकरण हेतु बाधक प्रमाण दिखाकर उत्तरपक्ष अर्थात् सिद्धांत पक्ष के साधक प्रमाण दिखाये जाते हैं। इस तरह स्वाभिमत में बाधक प्रमाणों का अभाव दिखाकर साधक प्रमाणों की संगति पूर्वक सिद्धांत स्थिर होता है।

**विषयोविशयश्चैव पूर्व पक्षस्तथोत्तरः ।
संगतिश्चेति पंचांगं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ॥**

द्रष्टव्य है कि इस पंचसूत्री विचार पद्धति को मीमांसा शास्त्र में 'अधिकरण' पद से अभिहित किया गया है। अधिकरणाधिष्ठित व्याख्या पद्धति का अनुप्रयोग मुख्य रूप से वेदांत और मीमांसा शास्त्र में ही देखने को मिलता है।

4.2 विद्या का अर्थ

विद्या, शास्त्र तथा तन्त्र पद का व्यवहार यद्यपि पर्याय रूप में होता रहा है तथापि मेरी दृष्टि से तीनों ही पदों में कुछ मौलिक अन्तर अवश्य है। चार धातुओं से विद्या पद की निष्पत्ति होती है— विद् सत्तायां, विद् लृ लाभे, विद् ज्ञाने तथा विद् विचारणे धातु प्रसिद्ध हैं। किन्तु सृष्टिके आरंभ काल से ही ज्ञान तथा विचार अर्थ में विद्या पद का प्रचुर प्रयोग होता आ रहा है।

ऋषियों को विद्या प्रतिभात हुई थी। न्यायभाष्य के उपसंहार में वात्स्यायन ने कहा है कि ऋषि अक्षपाद को न्यायविद्या प्रतिभात हुई थी।

योऽक्षपादमृषि प्रत्यभाद् वदतां वरम् ।

इसी तरह अन्य विद्याएँ भी अन्य ऋषियों को प्रतिगात हुई होंगी। ऋषि न्यायविद्या के विकीर्ण—विखरे हुए— सिद्धान्त प्रतिभात हुए होंगे, उसको उन्होंने शृंखलाबद्ध करके व्यवस्थित किया। उनके द्वारा क्रमबद्ध सूत्र के रूप में उपनिबद्ध न्यायदर्शन के सिद्धान्त ही शास्त्ररूप में परिणत हुआ। शास्त्र का स्वभाव है कि वह मानव मात्र के लिए केवल हित का ही शासन करता है— शशास्त्रत्वं हित शासनात्सा। शास्त्र का लक्षण इस प्रकार वर्णित है—

प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा ।

पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते ॥

नित्य अर्थात् अपौरुषेय ज्ञानराशि वेद तथा कृतक अर्थात् पौरुषेय ज्ञानराशि—ऋषियों के द्वारा किया गया उपदेश—हित कथन, ऐसा करना चाहिए, ऐसा नहीं करना चाहिए— इस प्रकार की प्रवृत्ति और निवृत्ति का उपदेश जो करता है, उसे शास्त्र कहते हैं। तात्पर्य यह है कि मानव मात्र के ऐहिक अभ्युदय तथा पारलौकिक निःश्रेयस के लाभ हेतु उपाय का उपदेशक है शास्त्र। यह शास्त्र सूत्ररूप में उपनिबद्ध है।

जयन्तभट्ट ने अपनी प्रौढ़ कृति न्यायमंजरी के आरंभ में कहा है कि वेद की तरह सभी विद्याएँ सृष्टिके आरंभ से ही चली आ रही हैं। उन विद्याओं को संक्षिप्त रहने पर विस्तृत एवं विस्तृत रहने पर संक्षिप्त करने के कारण विगिन ऋषि विभिन्न विद्याओं के कर्ता या प्रणेता माने गये हैं—

“आदिसर्गात्प्रभृति वेदवदिभाः विद्याः प्रवृत्ताः ।

संक्षेपविस्तरविवक्षया तु तांस्तान् कर्तृनाचक्षतेः ।

राजशेखर की काव्यमीमांसा में शास्त्रकार के कर्तव्य निर्धारण के अवसर पर इसका परिष्कृत संवाद मिलता है। इनकी दृष्टि में शास्त्रकार गूढ अभिप्राय का प्रकाशन और सन्दिग्ध तथा असंगत अर्थ (विषय) को निर्णय एवं संगति के साथ विशद करता है साथ ही संक्षिप्त को विस्तृत और विस्तृत को संक्षिप्त भी करता है।

4.3 शास्त्रीय प्रक्रिया

विद्वान् आलोचक को 'पदवाक्यप्रमाणज्ञ' कहने की प्राचीन प्रथा है। यहाँ पद से व्याकरणशास्त्र, वाक्य से मीमांसाशास्त्र और प्रमाण से न्यायशास्त्र परिगृहीत होता है। इसका तात्पर्य यह है कि व्याकरणशास्त्र, मीमांसाशास्त्र और न्यायशास्त्र के जानकार व्यक्ति किसी भी शास्त्रीय जटिल सिद्धान्तों का तथा लौकिक कठिन समस्याओं का समाधान व्याख्यान की इन शास्त्रीय प्रक्रियात्मक उपायों से कर सकता है, जो अनुभव परिपूत तथा तर्कपुष्ट होने से तदिविद्यों की गोष्ठी में अवश्य मान्य होगा। ये तीनों ही शास्त्र व्यावहारिक दृष्टि से अपनी अपनी उन प्रक्रियाओं को दिखाते हैं, जिन्हें के आधार पर शास्त्रों की व्याख्या हो सकती है। अतएव इन तीनों शास्त्रों को प्रक्रियाशास्त्र कहना अधिक उपयुक्त होगा। क्योंकि इनका स्वभाव ही है व्याख्या की प्रक्रिया का विधान करना। कुशल व्याख्याकार तथा निष्पक्ष आलोचक वही हो सकता है, जो 'पदवाक्यप्रमाणज्ञ' होगा। व्याकरण की प्रक्रिया का साधारण परिचय एवं अर्थवाद संक्षेप में प्रस्तुत हुआ। मीमांसा तथा न्याय की सरणि का परिचय यहाँ आगे यथावसर प्रस्तुत होगा।

शक्ति के ग्राहक द्वितीय उपाय उपमान से सादृश्य के द्वारा विषय को समझाना विवक्षित है। किसी वस्तु से भिन्न किन्तु उस वस्तु के अधिक गुण या धर्म से सम्पन्न वस्त्वन्तर (अन्य वस्तु) सादृश्य कहलाता है— 'तभिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम् सादृश्यं' सादृश्य का लक्षण है। 'चन्द्र इव मुखम्' इस पदमें चन्द्रगत आह्लादकत्व, सौम्य स्वरूप तथा भरीपुरी आकृति रहने से वर्तुलाकारत्व वक्ता का विवक्षित होता है। मुख चन्द्र से भिन्न है तथा चन्द्रगत ऊर्ध्व कथित असाधारण गुणों से युक्त भी है।

शक्ति के ग्राहक तृतीय उपाय कोश का ज्ञान अपेक्षित है। इसके बल पर विडोजा या मघवा पद से इन्द्ररूप प्रसिद्ध अर्थ तथा अमत्र पद से भोजन पात्र (पाली) रूप अर्थ परिज्ञात होता है। विद्वानों के लिए शब्दकोश का बल उतना ही अपेक्षित है जितना एक राजा के लिए धन का कोश अपेक्षित होता है। यह एक प्रकार का विशेष साधन है, चाहे वह काव्यनिर्माण का क्षेत्र हो या दर्शन के चिन्तन या आलोचन रूप व्याख्या का। धर्मशास्त्रीय निबन्धकार इसीके आधार पर निबन्ध में प्रयुक्त अप्रसिद्ध पदों का तत्काल प्रसिद्ध अर्थ दे देते हैं। यथा प्रसंगवश आगत को त की पद का कोश से घोषक अर्थात् अपामार्ग अर्थ निर्दिष्ट है किन्तु इतने से लेखक स्वयं (प्रसिद्ध मैथिल धर्मशास्त्रकार हरिनाथ उपाध्याय) सन्तुष्ट नहीं होकर स्मृतिसार के आरंभ में कहते हैं सोनधेमल इति प्रसिद्धः।

शक्ति के ग्राहक चतुर्थ उपाय है आप्त का वाक्य। यथार्थ वक्ता जो रागादि से अभिभूत होने पर भी अन्यथा (मिथ्या) नहीं कहे, आप्त कहलाता है। उनका वचन शक्ति का ग्राहक होता है। जैसे आप्त व्यक्ति के द्वारा 'कोकिलः पिकपदवाच्यः' कहने पर पिक शब्द का कोकिल अर्थ में शक्ति का ज्ञान होता है।

शक्ति के ग्राहक पंचम उपाय व्यवहार से वृद्ध का व्यवहार लेना है। उत्तम वृद्धिने मध्यम वृद्धासे कहा कि घड़ा ले आओ, गायको बाँध दो 'घटमानय गां बधान' यह सुनकर मध्यम वृद्ध वैसा करता है — यह देखकर बालक समझ जाता है कि आनय क्रिया का अर्थ लाना है, घट का अर्थ घड़ा है, गो का अर्थ गाय है और वधान का अर्थ बाँधना होता है। पदों का आवाप और उद्घात क्रमशः ग्रहण और त्याग देखकर बालक पदार्थ का (पद के अर्थ का) घट, आनय, गां तथा बधान का क्रमशः घड़ा, लाना, गाय तथा बाँधना रूप अर्थों का ग्रहण करता है।

शक्ति के ग्राहक छठवाँ उपाय है वाक्यशेष। प्रकृत वाक्य से, जिसका अर्थ अवधारणीय है, भिन्न वाक्य में प्रकृत वाक्यार्थ के उपयोगी प्रशंसापरक पद समूह वाक्यशेष से अभिप्रेत है। प्रकृति वाक्य है 'अक्ताः शर्कराः उपदधाति' इससे भिन्न वाक्य है 'तेजो वै घृतम। यहाँ अंजन तो तेल, वसा तथा घृत आदि किसी स्निग्ध द्रव्य से हो सकता है किन्तु वाक्यशेषस्थ घृत पद के रहने से घृत से ही अंजन का विधान होता है। इसी तरह 'यवमयश्चरुर्भवति' इस वाक्य में यवासे दीर्घशूक वाला अन्न लिया जाता है, कङ्गु अर्थात् 'काउन' नहीं। क्योंकि आगे कहा गया है कि वसन्त में अन्य औषध म्लान हो जाते हैं केवल यव प्रसन्न रहता है। अतः दीर्घशूक घाला अन्न (यव) ही यव पद से लिया जाता है।

शक्ति के ग्राहक सातवाँ उपाय है विवृति या विवरण। समानार्थक (पर्याय) पदसे पदार्थ का परिचय है विवृति। जैसे घटरू कलशः।

और शक्ति के ग्राहक आठवाँ उपाय है प्रसिद्ध पद का सान्निध्य। जैसे 'इह सहकारतरौ मधुरं पिको रौति' (आम के वृक्षपर कोईली अच्छी बोल रही है)– यहाँ सहकारतरु के सान्निध्य से पिक पद का कोकिल अर्थ उपपन्न होता है।

परमलघुमंजूषा तथा न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में उक्त शक्तिग्राहक प्रमाण या उपाय क्रमशः नागेश भट्ट तथा विश्वनाथ न्यायपंचानन द्वारा विशदरूपमें विवेचित हुआ है, उभयत्र उक्त पद्य उपलब्ध है।

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में नानार्थक शब्दों में सन्देह होने पर निश्चित अर्थ के अवधारण हेतु प्रसंग के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए विशेष कारणों का परिगणन किया है— संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिंग, शब्दान्तर की सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति तथा स्वर आदि।

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।

अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥

सामर्थ्यमौचित्यं देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।

शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥ –(वाक्यपदीयम्)

शंखचक्रधारी हरि पद से विष्णु का बोध होना, अशंखचक्र हरि से विष्णु का बोध नहीं होना, रामलक्ष्मण कहने पर दाशरथि राम का बोध होना, ... परशुराम या बलराम का बोध नहीं होना, रामार्जुन कहने पर राम से परशुराम का बोध, अंजलि से होम के उपस्थानकारक हाथ की मुद्रा, सैन्धवपद से भोजन काल में नीमक और यात्रा के समय में घोड़ा, अक्त पद से लिप्त, जामदग्न्य राम में राम से परशुराम, अभिरूप को लड़की देना इस वाक्य में अभिरूप से सुयोग्य वर, केवल सुन्दर नहीं, यश्चौनं मधुसर्पिषा में सेचन का अध्याहार कर अर्थ करना, 'यात्यत्र परमेश्वरः' में परमेश्वर से देश विशेष के राजा, रात में चित्रभानु से आग और दिन में सूर्य, मित्र पद से लिंग के आधारपर सूर्य या सुहृत् अर्थ आदि का बोध, यहाँ इन सब के उदाहरण हैं। "व्यक्ति" पद यहाँ लिंग क वाचक है तथा स्वर से काकु वचन या वैदिक उदात्तादि स्वर विवक्षित है।

(ख-1) पाठ की शुद्धता के साथ अभिप्राय समझाने के लिए महाभारत के व्याख्याकार नीलकण्ठ ने भी अपनी जागरूकता दिखायी है। इनका कहना है कि विविध देशों के कोशग्रन्थों को (मातृकाओं) अथवा कोष अर्थ में प्रसिद्ध अभिधान ग्रन्थों को पास में रखकर, शुद्धपाठों के निर्णय के साथ प्राचीन गुरुओं की वाणी का अनुसरण करके

महाभारत के भावों का दीप अर्थात् प्रकाशक मैं लिख रहा हूँ।

ग्रन्थ विश्लेषण में
प्रमाणों के
अनुप्रयोग

बहून् समाहृत्य विभिन्नदेश्यान
कोशान् विनिश्चित्य तु पाठमर्ग्यम्।
प्राचां गुरुणामनुसृत्य वाच—
मारभ्यते भारतभावदीपः ॥

—महाभारत की नीलकण्ठी व्याख्या का आरम्भ

(ख -2) नाट्यशास्त्र की व्याख्या हेतु प्रस्तुत आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती के आरम्भ में ही व्याख्या करने की अपनी प्रक्रिया का निर्देश किया है। इनका कहना है कि जहाँ अनेक प्रकार के पाठ उपलब्ध हों, इस स्थिति में अर्थक्रमानुसारी एवं प्रसंगसंगत पाठ को मूल में निश्चितरूप से रखकर, अन्य उपलब्ध पाठों को पाठभेद के रूप में निर्दिष्ट करना चाहिए। ग्रन्थकार के आशय का परिज्ञान जिससे हो जाए, उतनी व्याख्या करनी चाहिए। व्याख्या के समय यदि सन्दर्भों में पारस्परिक विरोध होता हो तो उसका समाधान करना व्याख्याकार का कर्तव्य है। इसरो अभिप्राय में पूर्णता आती है। उद्देश्य के अनुकूल अभिप्राय का प्रतिपादन होना चाहिए। श्लिष्ट वक्तव्य अर्थात् द्वयर्थक पद की विवेचना अर्थात् अभिप्रेत अर्थ का कथन अपेक्षित है। प्रसंग की संगति दिखानी चाहिए। यदि पुनरुक्ति हो तो सामान्यविशेषभाव के आधार पर उसका समाधान करना चाहिए। इससे व्याख्या निर्दोष होती है। उपसंहार में मुख्य अभिप्राय का संग्रह भी अपेक्षित है। ध्वन्यालोक में इस तरह से विषय संग्रह के लिए परिकर श्लोकों का व्यवहार आचार्य आनन्दवर्धन ने किया है। इन व्याख्या प्रकारों को कहकर अभिनवगुप्त ने इसी पद्धति पर चलते हुए नाट्यशास्त्र की व्याख्या की है।

उपादेयस्य सम्पाठस्तदन्यस्य प्रतीकनम्।
स्फुटव्याख्या विरोधानां परिहारः सुपूर्णता ॥ 5 ॥
लक्ष्यानुसरणं श्लिष्टवक्तव्यांशविवेचनम्।
संगतिः पौनरुक्त्यानां समाधानमनाकुलम् ॥ 6 ॥
संग्रहश्चेत्ययं व्याख्याप्रकारोऽत्र समाश्रितः ॥ 7 ॥
—अभिनवभारती का आरम्भिक अंश

(ख -3) रघुवंश महाकाव्य की व्याख्या करते समय आचार्य मल्लिनाथ ने कहा है कि कर्ता, क्रिया, कर्म तथा इनके विशेषण आदि के सन्निधान से अर्थात् अन्वय द्वारा वाक्य का तात्पर्य सुलभतया समझ में आ जाता है। अतएव इसी रीति से विविध काव्यों की व्याख्या करके इन्होंने व्याख्या का आदर्श प्रस्तुत किया है। इनकी व्याख्या में निर्मूल तथा अनपेक्षित विषयों का समावेश नहीं होता— यह एक बड़ी विशेषता है।

इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया।
नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते ॥

अन्वय दो प्रकार के होते हैं 1. दण्डान्वय तथा 2. खण्डान्वय। पद्यगत अन्वय पद से दोनों प्रकारों के अन्वय अभीष्ट हैं किंतु इन्होंने स्वयं दण्डान्वय का प्रचुर रूप में व्यवहार किया है।

नत्वा सरस्वती देवीं शुद्धा गुण्यां करोम्यहम्।
पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम् ॥

इस श्लोक का दण्डान्वय इस प्रकार होगा –

अहं शुद्धा गुण्यां सरस्वती देवी नत्वा पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्त-कौमुदीं करोमि ।
और खण्डान्वय इस तरह से होता है—

अहं सरस्वती देवी लघुसिद्धान्तकौमुदीं करोमि ।

कथंभूतां सरस्वती शुद्धाम् पुनः कथंभूतां गुण्याम् ।

विमर्थं करोमि – पामती प्रशाय ।

आशय यह है कि आदर्श व्याख्याकार काव्य या शास्त्र के आशय को समझाते समय सावधानी से तर्क और प्रमाणरूप युक्ति के आधार पर अपनी व्याख्या प्रस्तुत करता है, जितना कहने से पाठक को व्याख्येय पदार्थ का ज्ञान सुलभ अल्प आयास से हो जाए। अतः अनावश्यक विस्तार या कल्पना से अनपेक्षित एवं निर्मूल वक्तव्य से वह (व्याख्याकार) बचने का प्रयास करता है। न्यायकुसुमांजलि के प्रथम स्तवक के आरंभ में आचार्य उद्यन ने अन्य प्रसंग में कहा है कि जितना कहने से विषय विशदरूप से उपपन्न हो जाए नत्वा तथा अर्थात् समझ में आ जाए, उतना ही कहना चाहिये . यावदुक्तोपपन्न इति नैयायिकाः ।

न्यायभाष्य में भी यह बात कही गयी है साधनीय विषय की सिद्धि के लिए जितना शब्द समूह अपेक्षित हो, उतना कहना चाहिए। उस समूह की अपेक्षा करके पाँच अवयव कहे गये हैं 'साधनीयार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते तस्य पंचावयवाः प्रतिज्ञादयः समूहमपेक्ष्यावयवा उच्चन्ते । 1 । 11 11

व्याख्याकार की योग्यता

सर्वप्रथम व्याख्याकार से यह आशा की जाती है कि वह सम्बद्धशास्त्र का ज्ञाता हो तथा साथ ही साथ पद और वाक्य संरचना को भी भलिभाँति जानता हो। इसके लिये उसे व्याकरणशास्त्र, मीमांसाशास्त्र तथा न्यायशास्त्र का ज्ञाता होना आवश्यक है। व्याकरणशास्त्र से उसे उचित शब्दों का ज्ञान होता है तथा मीमांसाशास्त्र एवं न्यायशास्त्र से वह शब्द, वाक्य और शब्द वाक्य के मध्य सम्बन्धों को समुचित रूप में जान पाता है। व्याकरण, मीमांसा और न्याय शास्त्र— ये तीनों अलग-अलग होते हुए भी अन्य शास्त्रों के अध्ययन में सहयोगी होते हैं। व्याकरण से हम किसी ग्रन्थ के शरीर का ज्ञान प्राप्त करते हैं तथा मीमांसा और न्याय से ग्रन्थरूपी शरीर की आत्मा का। इतना ही नहीं ग्रन्थकार की योग्यताओं में तन्त्रयुक्तियों के ज्ञान को भी सम्मिलित किया गया है। कुल मिलाकर एक कुशल व्याख्याकार के अन्तर्गत इन सभी योग्यताओं का होना उसे ग्रन्थ विश्लेषण में कुशलता प्रदान करता है।

4.4 वैदिक ग्रन्थ का अध्ययन

प्रिय विद्यार्थियों आप यह भली प्रकार जानते हैं कि वेद के अध्ययन के लिये वेदाङ्ग हमारे सम्मुख आते हैं। वेदाङ्ग क बाद सूत्र, भाष्य, वार्तिक, व्याख्या, उपव्याख्या की शास्त्र परम्परा आयी। इस प्रकार से भारतीय ज्ञानपरम्परा में ग्रन्थों की एक विशाल परम्परा उपलब्ध होती है। वेद के अध्ययन के सूत्र हमें कठोपनिषद् के जिस मंत्र से प्राप्त होता है वह इस प्रकार है—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तो सम्परीत्य विविनक्तिधीर

श्रेयोहि धीरोऽभिप्रेयसोवृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमादवृणीते ।

सद्गुरु सत्यशास्त्र के उपदेशों के अनुसार धार्मिक मर्यादा नियम में रहने वाले मनुष्य को मोक्ष और उसके साधनरूप पुण्य, ज्ञान, सन्तोषदि रूप सब श्रेय तथा प्रेय (प्रियतर) स्वर्ग सुखादि और उनके साधन स्त्रीपुत्र विषयादि प्राप्त होते हैं। मनुष्यता से रहित को तो श्रेय या प्रेय कुछ भी नहीं प्राप्त होते हैं।

वेद की प्रवृत्ति सोपानारोह न्याय से अध्ययन की जाती है। यहां सकाम शुभकर्मों के बोधक वेद प्रथम सोपानरूप है। निष्कामतानुक्त कर्मदिको के बोधक द्वितीय सोपान रूप है। इससे कामादि को नहीं त्याग सकने पर परोपकारमय इष्टपूतादि कर्मों को करना अभ्युदय के लिये शुभ आरोह का प्रथम सोपान और निष्काम कर्मों का अनुष्ठान द्वितीय सोपान (सीढ़ी) है। इसके बाद न्यायवैशेषिक के अनुसार न्याय की रीति को और पदार्थों को समझना तृतीय सोपान है तथा दर्शन की दृष्टि से प्रथम सोपान ही हैं। भाव यह है कि—

**प्रत्यक्षं चानुभावं च शास्त्रं च विविधागमम् ।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥**

—(मनु. 12/15)

शास्त्र के अनुसार धर्म की शुद्धि (विवेकादि पूर्वक तत्वज्ञानादि) की इच्छा रखने वालों को प्रत्यक्ष, प्रमाण, अनुमान प्रमाण और अनेक प्रकार के वेदादि आगम रूप शास्त्रों को ज्ञात करना चाहिए अर्थात् लक्षण एवं प्रमाण से वस्तु की सिद्धि (ज्ञान) होती है, वहां सजातीय विजातीय से वस्तु के स्वरूप को भेदक धर्म को लक्षण और ज्ञात करने वाले वस्तु के यथार्थ ज्ञान के हेतु (कारण) को प्रमाण कहते हैं। उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव, ऐतिह्यादि शब्दप्रमाण से सत्यज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। वेदों का भाष्य करते समय निम्न परीक्षाओं को ध्यान में रखना चाहिए—

1. **युक्तियुक्ता** — कणाद कहते हैं— बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे अर्थात् वेद में बुद्धिपूर्वक बातें कहीं गयी है।
2. **निरुक्त** — केवल व्याकरण से वेदार्थ नहीं होता है। निरुक्त का आश्रय लेना चाहिए, निरुक्त के बिना मंत्रार्थ ज्ञान नहीं हो सकता।
यास्क— अथापी दमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थं प्रत्ययो न विद्यते।' तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कात्स्न्यं स्वार्थसाधकं च।' व्याकरण की पूर्णता निरुक्ति में ही है।
3. **व्याकरण** — रक्षार्थं वेदानामव्ययं व्याकरणम्।
4. **तर्क**— तर्क साक्षात् ऋषि है। किन्तु सभी तर्क का प्रयोग।
5. **प्रकरण** — प्रकरण के आधार पर अर्थ करना चाहिए। यास्कराचार्य ने कहा— न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः। प्रकरणशः एव तु निर्वक्तव्याः। यहाँ प्रयुक्त एवपद मन्त्रार्थ करने में प्रकरण की अपरिहार्यता का प्रतिपादन कर रहा है।
6. **गौणीवृत्ति** — वेदों में अनेक मंत्रों में आलंकारिक वर्धन पाये जाते हैं। ऐसे स्थलों पर शब्दों के मुख्यार्थ को न ग्रहण करके गौणी वृत्ति का आश्रय लेकर अन्य अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

वेदों में यम—यमी संवाद, सम्मापणि संवा, पुरुरवा, उर्वसी संवाद, विश्वामित्र नदी संवाद आदि ऐसे स्थलों की व्याख्या बिना गौणी वृत्ति की नहीं हो सकती।

7. **भूयोविद्य** — वेदभाष्यकर्ता को बहुश्रुत होना चाहिए। याज्ञिक, आधिभौतिक,

आधिदैविक, वैज्ञानिक आख्यानों के लिए भाष्यकर्ता का यज्ञ, विज्ञान, आयुर्वेद आदि क्षेत्रों का प्रवेश भी अनिवार्य होना चाहिए। जिसका जितना विस्तृत ज्ञान होगा उसका वेदभाष्य उतना ही प्रशंसनीय होगा।

8. ऋषित्व—मेधा—तपस्या श्री अरविन्द इस मत के समर्थक है।

इसके अतिरिक्त वेद भाष्यों के लिए निम्न चार निकषों का उल्लेख किया गया है।

1. मन्त्रों का अर्थ यज्ञ में कहीं—न—कहीं काम देता है— यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् (ऋग्वेद) अर्थात् समस्त वेदवाणी यज्ञ के द्वारा ही स्थान पाती है।
2. मंत्रार्थ बुद्धि के अनुकूल हो न कि प्रतिकूल।
3. मंत्रार्थ तर्क से सिद्ध किया हो।
4. मंत्रार्थ धातुज्ञ हो। प्रत्येक शब्द के धातु से निष्पन्न अर्थ स्वीकार्य हैं— 'नाम च धातुजमाह निरुक्त, अर्थात् निरुक्त में धातुज अर्थ ग्रहण किये गये है।

4.5 ग्रन्थों का पृथक्करण

वस्तु प्रतिपादक ग्रन्थ दो प्रकार के होते हैं— एक हेतुवाद पर आधारित दूसरा अहेतुवाद प्रतिपादक इनमेंसे अहेतुवाद प्रतिपादक ग्रन्थ को श्रद्धा से ही मान्य रखकर उसमें कही हुई बातें श्रद्धा से ही मान लेनी चाहिए और यदि दूसरी तरह से अन्तिम दिव्य ज्ञान न हो तो वहां तक वैसी बातों पर वृद्धि या तर्क का प्रयोग नहीं करना चाहिए किन्तु जहां हेतुवाद शास्त्र हो वहां उसमें कही गयी बातों के विषय में प्रत्यक्ष एवं अनुमान से जांच कर विषय का निश्चय करना चाहिए हेतुवाद के विषयों पर श्रद्धा करना उचित नहीं है।

प्रश्न : इतिहासकार किसी ग्रन्थ का विश्लेषण करते समय किन पहलुओं पर ध्यान देता है?

उत्तर : कोई भी इतिहासकार किसी ग्रन्थ का अध्ययन करते समय सर्वप्रथम ग्रन्थ की भाषा को जानना चाहता है कि यह ग्रन्थ किस भाषा में लिखी गयी है, सामान्य भाषा में या विशिष्ट लोगों की भाषा में। इसके बाद यह देखा जाता है कि वह ग्रन्थ किसके लिये लिखी गयी है, धार्मिक है या दार्शनिक है कि धर्मन्तर है। साथ साथ यह भी देखी जाती है कि पुस्तक किसी व्यक्ति, वर्गविशेष के लिये लिखी गयी है या सामान्य जन के लिये। इसके बाद इतिहासकार यह देखतना चाहता है कि ग्रन्थ में अन्य ग्रन्थों के विषयवस्तु या अभिलेख लिया गया है कि नहीं, यदि लिया गया है तो किस ग्रन्थ से। उसका काल क्या है। जिससे उसे यह ज्ञात हो सके कि यह ग्रन्थ लोकोपकार की भावना से लिखा गया है या ज्ञान की परम्परा को जारी रखने के लिये लिखा गया है या फिर इसे व्यक्ति वर्ग को प्रसन्न या आलोचना के उद्देश्य से लिखी गयी है।

4.6 श्रद्धा और बुद्धि प्रधान ग्रन्थ

मुख्य रूप से दो प्रकार के ग्रन्थ हमें प्राप्त होते हैं। प्रथम कोटि के ग्रन्थ को हम श्रद्धा प्रधान ग्रन्थ कह सकते हैं। अर्थात् वे ग्रन्थ जिनके अवगाहन के लिये ग्रन्थ में लिखित तथ्यों, विवेचनों के प्रति श्रद्धा की आवश्यकता पड़ती है, उन्हें श्रद्धामूलक ग्रन्थ कहते हैं। जैसे वैदिक साहित्य, नैतिक साहित्य, उपदेशात्मक साहित्य इत्यादि। दूसरे कोटि के ग्रन्थ जिनके अध्ययन में बुद्धि विशेष की आवश्यकता होती है, बुद्धि प्रधान ग्रन्थ

कहे जाते हैं। इस कोटि में वैज्ञानिक साहित्य तथा आलोचनात्मक साहित्य आते हैं।

4.7 समकालीन ग्रन्थों की व्याख्या में प्रमाण सिद्धान्त

प्रश्न उठता है कि किसी शास्त्र या ग्रन्थों की प्रामाणिकता का आधार क्या है? क्या किसी ग्रन्थ को मात्र शास्त्र कह देने से उस ग्रन्थ की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है? या जैसे ग्रन्थ जिन्हें शास्त्र की कोटि में नहीं रखा गया है किन्तु उनमें प्राप्त विषयवस्तु पूर्णतः प्रामाणिक है और सर्वमान्य भी तो ऐसे ग्रन्थों को क्या शास्त्र की कोटि में रखा जा सकता है।

प्रो. मोहनलाल मेहता ने अपनी पुस्तक 'जैन धर्म-दर्शन' में किसी भी ग्रन्थ को शास्त्र मानने के लिये निम्नलिखित विशेषताओं की जरूरत को माना है—

1. प्राचीनता, 2. प्रसिद्धि, 3. ग्रन्थकार का व्यक्तित्व, 4. अनुयायियों की श्रद्धा, 5. परम्परा का प्रभाव।

अर्थात् ज्ञान के साधना के आधार पर पूर्वाग्रह रहित होकर जो बातें की जाती हैं वे प्रामाणिक होती हैं, सर्वमान्य होती हैं। इसके विपरीत कथन संदिग्ध है, स्पष्ट नहीं है। उसके सम्बन्ध में कोई विवाद हो सकता है। परम्परा, स्वानुभव तथा विचार या कल्पना ये बातें प्राचीन तथा नवीन सभी ग्रन्थों में पायी जाती हैं। मुख्य आधार निर्दोष अनुभव है।

नयी खोजों के आधार पर लिखे गये ग्रन्थों में ज्ञान में नवीनता तो होती है। किन्तु स्थायित्व नहीं, हो सकता है। उसी दिशा में नयी खोजों से उसकी प्रामाणिकता खण्डित हो जाय। यदि ग्रन्थकार का अनुभव निर्दोष एवं निर्विकार है तो उसका खण्डन नहीं हो सकता है। कोई भी कथन राग, द्वेष, अज्ञान, प्रमाद, अहंकार, भय आदि से प्रभावित नहीं है तो उसके कोई दोष नहीं हो सकता है।

किसी शास्त्र अथवा ग्रन्थ की प्रामाणिकता अप्रामाणिकता की कसौटी तद्गत सामग्री ही है। वह सामग्री जितने अंशों में प्रमाण पुरष्कर होगी उतने ही अंशों में वह शास्त्र या ग्रन्थ प्रामाणिक होगा। सामग्री की परीक्षा किये बिना शास्त्र अथवा ग्रन्थ की प्रामाणिकता का निर्णय नहीं किया जा सकता है।

ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति के प्राकृतिक साधन हैं। इन्हीं द्वारा कोई इन्द्रियवान प्राणी अपने चारों तरफ के वातावरण की प्राथमिक संसूचना प्राप्त करता है और अपने वातावरण से सन्तुलन बनाने में समर्थ होता है।

शास्त्र की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में प्रश्न उठता है कि वह अपने आप में यथार्थ होता है अथवा अयथार्थ। इस समस्या पर भारतीय वाङ्मय में विचार के अनेक पहलू हैं। यहां हम प्रमुख विचाराधाराओं का संक्षिप्त विवेचन करेंगे—

जनमत में शास्त्र श्रुतज्ञान के अन्तर्गत आता है। श्रुतज्ञान दो प्रकार का होता है। 1. अक्षरात्मक श्रुतज्ञान 2. अक्षरात्मक श्रुतज्ञान। श्रोतेन्द्रिय के अतिरिक्त जो चार इन्द्रियाँ हैं— आँख, नाक, जीभ, त्वचा से मतिपूर्वक तथा मन के सहयोग से जो ज्ञान होता है उसे अनक्षरात्मक श्रुत ज्ञान कहते हैं। श्रोतेन्द्रिय से मतिपूर्वक एवं मन के सहयोग से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे अक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं। उदाहरण— किसी ने कहा 'कलम है'। मात्र उसे सुनना और सुनने के बाद विभिन्न कारणों से इसे जानना ये दो भिन्न बातें हैं। सुनकर विभिन्न कारणों से उसे जानना अक्षरात्मक ज्ञान है।

शास्त्रवचन की सत्यता के दो पहलू होते हैं। प्रयोगकालीन और अर्थकालीन। प्रयोगकालीन पहलू वक्ता पर आधारित होता है। वक्ता शब्द का यदि यथार्थ प्रयोग करता है तो वह सत्य होता है। अर्थकालीन पहलू श्रोता पर आधारित होता है। श्रोता यदि यथार्थ अर्थ को ग्रहण करता है तो वह भी सत्य होता है।

सत्यवचन की अपेक्षाएँ : सत्यवचन की दस अपेक्षाएँ होती हैं—

- क. जनपद, देश अथवा राष्ट्र की अपेक्षा सत्य
- ख. सम्मत या रूढ़ि सत्य
- ग. स्थापना की अपेक्षा सत्य
- घ. नाम की अपेक्षा सत्य
- ङ. रूप की अपेक्षा सत्य
- च. प्रतीत्य सत्य — दूसरी वस्तु की अपेक्षा सत्य
- छ. व्यवहार सत्य — औपचारिक सत्य
- ज. भाव सत्य — व्यक्त पर्याय की अपेक्षा सत्य
- झ. योग सत्य — सम्बन्ध सत्य
- ञ. औषम्य सत्य

4.8 सारांश

ग्रन्थ मानवीय ज्ञान के सार्वजनिक संग्रहालय हैं। इसमें प्रचीन से लेकर अर्वाचिन ज्ञान का स्वरूप एवं तथ्य संग्रहीत रहते हैं। ग्रन्थ में ज्ञानात्मक तथ्य इकाई रूप में श्रृंखलाबद्ध रूप से बुने रहते हैं। लिखित ग्रन्थ का विश्लेषण हम अनुवाद, व्याख्या, समालोचना तथा पुनर्पाठ द्वारा करते हैं। ये ग्रन्थ जिस संस्कृति के अन्तर्गत लिखे जाते हैं, उस संस्कृति के मूल शब्द का अर्थ उसी संस्कृति के अन्तर्गत लिखे जाते हैं। फलतः अनुवादों द्वारा हम ग्रन्थ का पूर्ण अध्ययन नहीं कर सकते। जिस प्रकार ज्ञान की संरचना एक जीवित प्रकृता है, उसी प्रकार ज्ञान का विश्लेषण एक जीवित प्रकृता है। यह प्रकृता प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण तथा प्रमा के द्वारा सम्पन्न होती है। यदि हम ग्रन्थ विश्लेषण में इन प्रमाणमीमांसा तत्त्वों को ध्यान में रखते हुए ग्रन्थ विश्लेषण करते हैं तो हम ग्रन्थ के प्रतिपाद्य को निकट पहुंच सकते हैं।

भारत में ग्रन्थ निर्माण का इतिहास अति प्राचीन है। भारतीय ग्रन्थों के विश्लेषण के लिये, भारतीय ग्रन्थों के स्वरूप को जानना आवश्यक है। केवल भारतीय ग्रन्थों के स्वरूप को ही जानना आवश्यक नहीं भारतीय व्यख्या पद्धति को भी जानना आवश्यक है। ग्रन्थों में लिखित पदच्छेद, व्युत्पत्ति, वाक्येयोजना, आक्षेप और समाधान के द्वारा ग्रन्थों का विश्लेषण किया जा सकता है। इतना ही नहीं न्यायशास्त्र तथा मीमांसाशास्त्र का ज्ञान आवश्यक है तथा उपमान, कोशज्ञान रूपी शब्द प्रमाण आवश्यक शर्तें हैं। चूंकि वैदिक ग्रन्थ अपौरुषेय है अतः इनका विश्लेषण ठीक उसी विधि से नहीं हो सकता जिसके विधि से हम पौरुषेय ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं।

4.9 पारिभाषिक शब्दावली

आद्यशास्ता : प्रथम उपदेशक को आद्यशास्ता कहते हैं। बौद्ध संस्कृति में महात्मा बुद्ध को बौद्धधर्म दर्शन आद्यशास्ता कहा जाता है।

ऋषिप्रोक्त : वह ज्ञान जो ऋषियों द्वारा कहा गया है, उसे ऋषिप्रोक्त कहा जाता है। ऋषिप्रोक्त कहने का अर्थ यह है कि यह ज्ञान साक्षात्कार पर आधारित है। अतः शब्दप्रमाण में प्रथम कोटि के अन्तर्गत माना जाता है।

अविसंवादि ज्ञान :

माणिक्य नदी : जैन दार्शनिक

अधिकरणाधिष्ठित व्याख्या : किसी विशेष मुद्दे को लेकर संरचनाबद्ध व्याख्या को अधिकरणाधिष्ठित व्याख्या कहा जाता है। यह विधि प्राचीन भारत से ही प्रयुक्त की जा रही है।

4.10 सन्दर्भग्रन्थ

1. भारतीय दर्शन, डॉ. राधाकृष्णन राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली।
2. शुक्रनीतिसार
- 3- Problems of Interpretation and Translation of Philosophical and Religious Texts, N.S.S. Raman, Indian Institute of Advanced Study Rashtrapati Nivas, Shimla
4. कौटिल्य अर्थशास्त्रम्, वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

4.11 बोध प्रश्न

1. बिना भारतीय व्याख्यापद्धति को अपनाये भारतीय ग्रन्थों की व्याख्या अपूर्ण एवं एकांगी होती है। इस कथन की पुष्टि करिये।
2. ग्रन्थ विश्लेषण में प्रमाण सिद्धान्तों के प्रयोग पर एक निबन्ध लिखिए।
3. प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमा पर बिना विचार किये ग्रन्थ के प्रतिपाद्य का सम्यक् निर्धारण नहीं हो सकता। इस कथन की पुष्टि कीजिए।
4. समकालीन ग्रन्थों के विश्लेषण में भारतीय प्रमाण सिद्धान्त का उपयोग हितकारी है। इस कथन पर प्रकाश डालिए।